Journal Global Values, Vol. XV, No. Special Issue 2024, ISSN: (P) 0976-9447, (e) 2454-8391, Impact Factor 8.888(SJIF)
https://doi.org/10.31995/jgv.2024.v15iS1.017

लोक कला एवं लोक प्रतीकों का अंकन

डॉ॰ नीरू
विभागाध्यक्ष, चित्रकला विभाग
रानी भाग्यवती देवी महिला महाविद्यालय,
बिजनौर

रुचि राजपूत
शोधछात्रा
रानी भाग्यवती देवी महिला महाविद्यालय,
बिजनौर

सारांश:

कला के आविर्भाव और विकास की कहानी बहुत लम्बी है। मनुष्य के उद्भव एवं विकास के साथ–साथ ही कला की यात्रा का उद्भव व विकास माना जाता है। जिसके साक्ष्य हमें प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक काल तक ही नहीं बल्कि समकालीन काल तक देखने को मिलते है। मनुष्य द्वारा किसी भी कार्य को दक्षतापूर्वक करना जो मनुष्य की भावनाओं के साथ–साथ उसे सुख, आनन्द तथा सौन्दर्य की अनुभूति दे, वही कला है, चाहे वह किसी भी स्थान, क्षेत्र, अवसर तथा परम्परा से सम्बन्धित ही क्यों न हो। सरल शब्दों में यदि कहे तो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती हमारी संस्कृति व परम्परायें ही लोक कला है। अतः कलाओं के प्रस्फुटन एवं फैलाव में लोककला का भी बहुत महत्व– पूर्ण स्थान है। जीवन के विविध आयामों में भी लोककला का महत्वपूर्ण स्थान देखने को मिलता है। ये लोक कलाएँ बहुत से रूपों में हमारा मन मोह लेती है, जैसे ये लोक कलाएँ कहीं हमें प्रतीको के रूप में दृश्यमान होती है, कहीं शब्दों में गूँजती दिखती है, कही रेखाओं में उभरती दिखती है, कहीं लोकगीतों में दिखती है और कहीं नृत्य में थिरकती हुई दृश्यमान होती है। यह लोक कला ही हमारी सांस्कृतिक परम्परा है, जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी, रीति–रिवाज, परम्परा, धर्म, सभ्यता तथा मत मान्यताओं का मूल्यों सहित हस्तान्तरण है। लोक कला जनसाधारणा की कला है। चन्द्रिकेश जगदीश के अनुसार ''लोक कला' लोक की कला है। यह जन–जीवन में इस प्रकार गुथ गयी है कि उसको पृथक् करके देखने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। लोककला सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक है। उसने जन–जीवन से प्रेरणा और आत्म संबल लिया है। इसके लिए स्कूल प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है, वह तो लोक की धरोहर है।''

मुख्य शब्द:

स्वतन्त्र भारत, लोककला, सांस्कृतिक परम्पराएँ, रीति–रिवाज, प्रतीक, मांगलिक

Reference to this paper should be made as follows:

डॉ॰ नीरू
रुचि राजपूत

लोक कला एवं लोक प्रतीकों का अंकन

Vol. XV, Sp. Issue
Article No. 17,
pp. 121-128

Online available at https://anubooks.com/journal/journal-globalvalues

DOI: https://doi.org/10.31995/jgv.2024.v15iS1.017

(डॉ॰)

''लोक कला में मूल प्रवृत्ति स्वछन्द, स्वाभाविक एवं जीवन मूल्यों, का सहज चित्रण होता है। मानवीय अनुभूतियों की भावाभिव्यक्ति लोक कला और लोक कलाकारों का मूल धर्म व लक्ष्य रहा है, इसके गंगा–जमुनी रंगों की सतवंती छवि हमें सर्वत्र दिखाई देती है। संस्कारों और सुविचारो की श्रृखला में आबद्ध इसका यह स्वरूप स्वाभाविक रूप से ही सर्वत्र विकसित हुआ है।'

–डॉ॰ पूरन सहगल

लोक कला की उत्पत्ति, उन्नति तथा समृद्धि मानव सभ्यता के विकास और इतिहास के साथ जुड़ी है। लोक कला जनसाधारण के मन, भावों तथा विचारों का कलात्मक अंकन है। यह निरन्तर क्रियाशील रहने वाली ऐसी परम्परा है, जिसके लिये किसी यश, लालच तथा लाभ की आवश्यकता नहीं है। यह तो भारतीय संस्कृति, भारतीय परम्पराओं तथा रीति–रिवाजों का वह सम्मिलित रूप है, जो जनसाधारण में या जनसामान्य में पीढ़ी–दर–पीढ़ी भारतीय मूल्यों सहित हस्तान्तरित होती है। इसमें कल्पनाशीलता, सृजनात्मकता तथा बुद्धि का योग रहता है। इसके लिये किसी भी प्रकार के शिक्षण, प्रशिक्षण तथा प्रशिक्षण केन्द्रों की आवश्यकता नहीं होती है। यह लोककला हमारे हर्षमय या उल्लासमय संबंधों में जुड़कर हमारे साथ न जाने कितनी सदियों से चली आ रही है। यह हमारे स्वतन्त्र भारत के अनेक राज्यों, क्षेत्रों तथा अंचलों में बिना किसी प्रलोभन, लालच, आश्रय तथा प्रोत्साहन के प्रवीणता, स्वच्छन्दता, सौम्य तथा मधुर गति व स्वतन्त्रता से निरन्तर आगे बढ़ती रही, क्योंकि यह लोककला हमारे गाँव, घर, आँगन की वस्तु है। यह किसी न किसी रूप में रमणीय, सरल, शान्त तथा स्वभाविक रूप से सांस्कृतिक, धार्मिक मत, मान्यताओं, परम्पराओं आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के प्रतीकों तथा पारिवारिक रूढ़ियों के साथ हमारे साथ बनी रहती है। लोककला की जड़ लोक है। प्रो.सी.एल. झा के शब्दों में ''लोक–कला हमारी धार्मिक एवं आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की प्रतीक है, मानव–हृदय की उपज है और जिसमें कृत्रिमता एवं प्राविधिक प्रयोगों का कोई भी स्थान नहीं है।''

'लोक कला' में 'लोक' जिसका अर्थ है 'सब मिलकर' उतना ही आवश्यक है, जितना 'कला' 'लोक' व 'कला' दोनों शब्दों का अधिजनन संस्कृत भाषा के 'लोक' व 'कला' से हुआ है। 'लोक' का अर्थ है–देखना व 'कला' का अर्थ है 'कोमल व मधुर।' इस प्रकार 'लोककला' का अर्थ 'कोमल व मधुर को देखना है।' लोककला स्वतन्त्र, स्वच्छन्द तथा उन्मुक्त है तथा लोककला को किसी भी परिभाषा के बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता है।[1]

अँग्रेजी भाषा में 'लोककला' को 'Folk Art' भी कहते है। 'Folk' शब्द का हिन्दी रूपान्तरण 'लोक' है। 'फॉक' शब्द का सबसे पहले प्रयोग सन् 1856 में इंग्लैण्ड के प्रख्यात पुरातत्वविद विलियम जॉन थॉमस द्वारा किया गया। लोक शब्द का उपयोग 'ग्राम' तथा 'जन' के अर्थ में भी किया जाता है। 'जन' शब्द जनसाधारण या साधारण जनता के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अतः 'लोक' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि 'लोक' शब्द संस्कृत के 'लोक दर्शन' धातु में 'धञ्' प्रत्यय से मिलकर उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है–देखना। इस प्रकार लोक का कोषगत शाब्दिक अर्थ सृष्टि जन, लोग, स्थान विशेष तथा समाज के प्राणी

आदि होता है। अतः लोककला सामान्य जन, व्यक्ति या जनसाधारण की कला है। लोककला जनसाधारण द्वारा जनसाधारण के लिए बनायी जाती है। लोककलायें स्वतन्त्र भारत का स्वर्णमय गौरव तथा स्वर्णिम अतीत है। जिनकी झलक देशज, अंचलों तथा स्थानीय समाज की सामूहिक मान्यताओं, परम्पराओं, संस्कृति, रीति–रिवाजों, मांगलिक अवसरों, त्योहारों आदि में दिखाई देती है। लोक कलायें हमारी जागीर, धरोहर एवं विरासत के साथ–साथ पथ प्रदर्शक भी है। लोक जीवन में कला की सरल, मधुर तथा सहज अनुभूति होती है तथा लोक कला अपने पवित्र आदिम संस्कारों, परम्पराओं, रीति–रिवाजों के साथ संस्कृति तथा युग संदर्भों से जुड़कर पीढ़ी–दर–पीढ़ी प्रवाहशील होती रहती है। लोककला साधारण मानस की भावानुभूति, सांस्कृतिक भावना तथा सहज आनन्द से परिपूर्ण मधुर, स्वच्छन्द, सरल तथा परम्परागत रूपों की अभिव्यक्ति है, जिनका मूल आधार धारणा, आस्था तथा विश्वास है। संसार के प्रारम्भ से ही लोककला हमारे बीच स्थित है। इस दृष्टिकोण से आदिमानव पहला चित्रकार था तथा प्रागैतिहासिक चित्राकृतियाँ प्रथम लोक चित्राकृतियाँ मानी जा सकती है और इसी कारण तभी से लोककलाएँ तथा लोक निर्माण हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन गये।[2]

लोक परम्परा और लोकाचार आदि विषयों के अध्ययन का प्रारम्भ सर्वप्रथम यूरोप में 1687 ई॰ में जॉन आब्रे की पुस्तक 'रिमेन्स ऑफ जैन्टेलिज्म एंड जुडाइज्म' के लेखक के साथ प्रारम्भ हुआ था। स्वतन्त्र भारत की सांस्कृतिक भावना, विश्वासों, प्रतीकों, रीति–रिवाजों तथा परम्पराओं आदि से परिपूर्ण लोककला जन सामान्य द्वारा गीले व सूखे रंगों द्वारा घर के द्वार, चौखट, आँगन, चबूतरे, जमीन व भित्ति आदि पर बनायी जाती है। लोककला में खनिज व प्राकृतिक पदार्थों या घर में ही उपलब्ध वस्तुओं का प्रयोग लोक चित्र बनाने में किया जाता है, जो मुख्य रूप से महिलाओं द्वारा बनाये जाते है। श्रीमति शचि रानी गुर्टू के शब्दों में 'लोक कला हृदय को आन्दोलित करने की क्षमता रखती है। उसके सौन्दर्य में झाँकने के लिए तर्क–वितर्क की आवश्यकता नहीं होती है।'[3] जनमानस का मुख्य अभिप्राय यह रहा है कि वह अपने अनुभवों की स्वतंत्र अनुभूति करे। इस दृष्टिकोण से प्रतीकात्मक शैली के अमूर्त आलेखन चित्र, लोक रेखांकन आदि द्वारा धार्मिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक रीति–रिवाजों को लोककला में अभिव्यक्त किया गया है। किसी भी प्रकार के आश्रय, प्रसिद्धि तथा प्रलोभन की अपेक्षा किये बिना लोककला की यह अविरल धारा हमारे धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ आगे बढ़ती रही है साथ ही घरेलू सम्बन्धों से जुड़कर जनसामान्य की रूह एवं आत्मा से जुड़ी रही है। यह भारतीय परम्परा, संस्कृति एवं सभ्यता के विकास तथा उन्नति की अनमोल निधि है। लोक मानस की प्रत्यक्षानुभूति, लौकिक अनुभूति तथा सौन्दर्यानुभूति अनगिनत प्रतिमानों तथा रूपों में प्रतिध्वनित हुयी, जिन्हें हम अनेक प्रान्तों, अंचलों तथा क्षेत्रों की कलाओं के रूप में जानते है। जैसे उत्तर प्रदेश में– चौक पूरना या सोन रखना, महाराष्ट्र में– रंगोली, राजस्थान में – माण्डना, सांझी, काँवड़, मेहन्दी, पड़, कठपुतली, गोदना, गुजरात में–साथिया (संथिया), बंगाल में–अल्पना, कालीघाट पेटिंग, बुन्देलखण्ड में–चितेरी, बिहार में अहपन, मधुबनी, तान्त्रिक चित्रण, आन्ध्रप्रदेश में गौंडवी, बनारस में– लकड़ी के खिलौने, उड़ीसा

में सोहरा, पश्चिमी बंगाल में कांथा, टेराकोटा, जैसलमेंर में देह चित्रांकन (मेहन्दी, गोदना, महावर, बिन्दी), कश्मीर में बुडकार्विंग आदि। अतः इस प्रकार भारत के समस्त प्रान्तों व क्षेत्रों में लोककला व सांस्कृतिक परम्परा की जो अविरल रस धारा प्रवाहित होती रही है, इसी का परिणाम व निष्कर्ष है कि लोककला आज भी स्वतन्त्र भारत के सभी राज्यों व क्षेत्रों में गौरव व चित्रण परम्परा को प्रकट करती है साथ ही यह पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है। अतः जनसामान्य के लिए सृजित कला ही लोककला है, जो जनसामान्य की भावना को अभिव्यक्त करने का महत्त्वपूर्ण स्त्रोत है।[4]

भारत में लोककला को जीवित रखने का श्रेय यहाँ की महिलाओं को जाता है। वे अनेक मंगल कामनाओं हेतु मंगल कार्य करती है जैसे धार्मिक अनुष्ठानों पर अपने पति, बच्चों, भाई, बहन तथा घर के अन्य सदस्यों हेतु उपवास, त्योहार, व्रत आदि करती है। साथ ही किसी न किसी धार्मिक अवसर, त्योहार जैसे–होली, दीवाली, गोवर्धन पूजा, अहोई, दुर्गापूजा, विसर्जन, करवा चौथ, नामकरण यज्ञ, छठ, मुण्डन, देव–उठान तथा विवाह आदि पर शुभ रूप में तथा पवित्रता के रूप में लोक चित्रों का अंकन करती है। अपने खाली समय में भारत की महिलायें टोकरी, कपड़े, रूमाल, तकिये, चटाई, कालीन, भित्तियों तथा बिटोडो आदि पर भी अनेक लोक अलंकरण बनाती है। गणगौर व तीज पर राजस्थानी मूर्तियाँ, गोवर्धन पूजा पर गोवर्धन की मिटटी की मूर्तियाँ, बंगाल में अल्पना, दशहरे पर पायता, नवरात्रि में साँझी, रक्षा बन्धन पर मांगलिक उरेहने, करवाचौथ तथा अहोई पर भित्तियों में चौके तथा कुमायूँ की पहाड़ियों में कार्तिक महीने में शिव और उनके परिवार की मूर्तियाँ आदि बनायी जाती है, जिन्हें लोक कला के रूप में बनाया जाता है।[5] लोककलाओं को कई प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है, लेकिन दो प्रकार के विभाजन अत्यधिक महत्वपूर्ण माने जाते है। प्रथम विभाजन सामग्री के अनुसार है, इसके अनुसार लोक कला आठ प्रकार की है। इसके अन्तर्गत पहनावा, आभूषण, खिलौने तथा मूर्तियाँ, वाद्ययन्त्र, पात्र, हथियार, औजार, अनेक प्रकार की चित्रकारी आदि आते है। इन्हें भिन्न–भिन्न प्रकार के लोकात्मक रूप में अंकित किया जाता है। दूसरा विभाजन प्रयोगों के अनुसार है इसके अनुसार लोककला के चार प्रयोग धार्मिक लोककला, उपयोगितावादी लोककला, मनोविनोदार्थ लोककला तथा व्यक्तिवादी लोककला आदि सम्मिलित है।[6]

लोककला ग्रामीण अंचलों तथा ग्रामीण जन–जीवन में पनपती है। यह अपरिवर्तित, सहज तथा अपरिष्कृत है। इसका चित्रांकन प्रतीकात्मक रूप से किया जाता है। लोक चित्रों में ऐसी अनेक आकृतियाँ अंकित की जाती है, जिनका कोई न कोई प्रतीकात्मक अर्थ होता है तथा लोक कलाकार इन प्रतीकात्मक आकृतियों तथा रूपों का अंकन कई सदियों से करते चले आ रहे है। परिणामस्वरूप आज भी हमारा समाज या लोकमानस उनकी मांगलिकता, प्रतीकात्मकता तथा उनके अर्थों को नहीं भूल पाया है। लोक कला में प्रयोग किये जाने वाले प्रतीक चिन्ह–स्वास्तिक, ऊँ, चक्र, सूरज, चाँद, तारे, कलश, फूल–पत्ती, गणेश, शंख, कमल का फूल, थाप चित्रण, गोदना, गोधनों रंगोली, मेहंदी, चौक पूरना आदि है। वास्तव में ये प्रतीक चिन्ह हमारी लोक संस्कृति की भाषा है, जिन्हें लोक जीवन की सत्यता में उतरकर ही समझा जा सकता है।

स्वास्तिक चित्रण कल्याण का प्रतीक है। यह भारत के सभी क्षेत्रों की कला में मुख्य प्रतीक के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह एक मांगलिक प्रतीक है, जिसका अंकन सुख, कल्याण सुरक्षा तथा समृद्धि के लिए किया जाता है। ऊँ से कलश की मांगलिकता को बढ़ाया जाता है। सूर्य, चाँद तथा तारे का प्रयोग भी प्रतीकात्मक रूप में किया जाता है क्योंकि ये सभी वैदिक संस्कृति के प्रतीक भी माने जाते हैं। सूर्य उच्च बुद्धि तथा विज्ञान का प्रतीक है। चन्द्रमा प्रदाता के प्रतीक के रूप में अंकित किया जाता है। कलश पूर्णघट का प्रतीक है। यह भी एक मांगलिक प्रतीक है। फूल पत्तियों से सुसज्जित पूर्णघट जीवन की पूर्णता का प्रतीक है। दीपक प्रकाश का द्योतक तथा अज्ञानता को दूर करने वाला मांगलिक प्रतीक है। गोधना यह पूर्वी उत्तर प्रदेश में गोवर्धन पूजा के उपलक्ष में समतल भूमि पर गोबर से बनाया जाता है। इस चित्रण का अंकन समाज में व्याप्त दुःख को खत्म करने के उद्देश्य से किया जाता है। थाप चित्रण मांगलिक पर्व तथा विवाह संस्कार आदि के अवसर पर बनाये जाते है। ये थाप घर की अलंकारिता तथा सुरक्षा के लिए बनाये जाते हैं। गोदना एक अंग सज्जा वाली लोककला है। यह एक बहुत प्राचीन परम्परा है, जो गाँव के परिवेश से होते हुए आज आधुनिकता लिये शहरो में नई तकनीक के रूप में युवक युवतियों के बीच आकर्षण का केन्द्र बन गयी है। वर्तमान समय में यह टैटू के रूप में गुदवाया जाता है। रंगोली भारत के भिन्न–भिन्न प्रान्तों में भिन्न नामों से जानी जाती है। यह महाराष्ट्र की एक महत्वपूर्ण लोककला है। इसे गुजरात में संथिया, गढ़वाल में आपणा, राजस्थान में मांडना, बंगाल में अल्पना, उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में चौक पूरना तथा कुछ भागों में सोन रखना तथा बिहार में अहपन के नाम से जाना जाता है। ये स्वान्तः सुखाय तथा सुख समृद्धि के प्रतीक के रूप में बनायी जाती है। चौक पूरना एक पारम्परिक लोकचित्र है। यह सहज, लोकप्रिय तथा सरल लोककला है। यह उत्तर प्रदेश की विशेष लोककला है। इसे मांगलिक अवसरों तथा त्योहारों पर विघ्न, भय, अशुभता तथा बाधा से बचने के प्रतीक के रूप में बनाया जाता है। अतः जन सामान्य का सौन्दर्य बोध उपरोक्त प्रतीकों, प्रतिमानों तथा रूपों में विद्यमान है, जिन्हें हम भारत के अनेक प्रान्तों, क्षेत्रों या अंचलों की लोक कलाओं के रूप में जानते हैं।[7] लोक कला के चित्रांकन या अंकन में जिन माध्यमों का प्रयोग किया जाता है वे है–आँगन, भित्ति, द्वार आदि तथा इन पर अंकन तूलिका के रूप में सींक, रूई, अँगूठा तथा हाथ की उंगली आदि से किया जाता है। इन लोक कलाओं का चित्रण प्रकृति से प्राप्त वस्तुओं जैसे–चावल, गेहूँ का आटा, गेरू, गाय का गोबर, हल्दी, हिरौजी, खड़िया, सूजी, लकड़ी का बुरादा आदि से किया जाता है।[8]

नृत्य, मंच अभिनय, मूर्तिकला तथा चित्रकला के अतिरिक्त लोक कला इंद्रियबोध क्षमता, अभिव्यक्ति व अनुभव की एक सशक्त रस धारा रही है। यह लोकात्मक रस धारा अत्यन्त जीवन्त है, लेकिन इसकी ओर हमारे कलाकारों की दृष्टि कुछ देर से गयी। भारतीय परम्पराओं के प्रति हमारे भारतीय कलाकारों ने ग्रामीण आंचलिक परिवेश से उत्साहवर्धक प्रेरणा प्राप्त की। पारम्परिक संस्कृति से नवीन अनुभव, नवीन सृजनात्मकता तथा नवीन जटिलताएँ उत्पन्न होती है। अतएवं लोक परम्परायें संस्कृति, लोकचित्र सदैव संरक्षणीय है। आज स्वतन्त्र भारत के

साथ–साथ विश्व के सभी देशों में लोककला के प्रति नित नवीन रुचि तथा आकर्षण उत्पन्न हो रहा है। बदलते हुए समय के साथ–साथ इन लोककलाओं का भी स्वरूप बदल रहा है।[9]

परिवर्तन प्रकृति का नियम है इसीलिए मानव समाज में परिवर्तनशीलता एक अनिवार्य प्रवृत्ति होती है। वर्तमान समय में बदलते स्वरूप के साथ यह विशेषता आज भी दृष्टिगोचर होती है। यही कारण है आधुनिक समय में भी लोककलाओं तथा लोक संस्कृति का प्रभाव दिखाई पड़ता है। वर्तमान, समकालीन समय या आधुनिक समय मे लोककलाओं ने कई पक्षों में आधुनिकता या समकालीनता के साथ सामंजस्य स्थापित किया है।[10] हम स्वतंत्र भारत की समकालीन कला की क्रियाविधि या गतिविधियों को तब अच्छे ढंग से समझ सकते है जब हम उस पर लोककलाओं के प्रभावों पर ध्यान देगें। भारत के बहुत से कलाकारों ने समृद्ध, स्वतन्त्र तथा विस्तृत लोककला परम्पराओं से प्रेरणा ली है। इन लोककलाओं में प्रतीक चिन्ह, ज्योतिष व तंत्र संबंधी पांडुलिपियाँ तथा लोक लघु चित्र आदि शामिल है। लोककला की प्राचीन तथा सांस्कृतिक परम्परा में रेखा तथा रंग की निरन्तरता दिखायी देती है। जो भारत की अपनी प्रमुख विशेषता है। भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले कला के क्षेत्र में केवल पश्चिमी शैली की नकल चल रही थी किन्तु यामिनी राय ने इस पश्चिमी शैली के अनुकरण की प्रचलित धारणा को तोड़कर बंगाल की लोककला को अपने चित्रों का माध्यम बनाया जिसके साथ एक विशेष लोकोन्मुख कला शैली का उद्‌भव तथा विकास हुआ।[11] इन्हें ज्ञात हुआ कि कलाकारो ंको अपनी कलाकृतियों को सुदृढ़ तथा समृद्ध बनाने के लिए लोकरीति, लोक परम्परा तथा लोककला को अपनाना होगा। आगे चलकर के.सी. एस. पणिक्कर के चित्रों में भी हस्तलिपि, प्रतीकों तथा ज्यामितिक जैसे लोकचित्रों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, भले ही उनकी कला मूलतः अमूर्त है लेकिन वे रैखिक डिजाइन की ओर पूरी तरह से झुके हुये थे। बद्री नारायण ने भी लोकचित्रभाषा, पौराणिक तथा लोककथाओं पर आधारित पेटिंग्स का निर्माण किया। जे. सुलतान अली ने लोक, आदिम तथा जनजातीय कला से सम्बन्धित अनेक काष्ठ उत्कीर्णन, यांत्रिक रूपाकार तथा मुखौटो का निर्माण किया। इनके अतिरिक्त ज्योति भट्ट, आर.बी. भास्करन, वाई. के शुक्ला, जी. एस. वासुदेव, रामेश्वर सिंह, लक्ष्मण यादव, नंदगोपाल तथा एल. मुनुस्वामी ने अपने चित्रों तथा कृतियों में जनजातीय स्त्रोतों से प्राप्त प्रतीकों, अभिप्रायों, चिन्हों तथा लोक प्रतीकों का विशिष्ट प्रयोग किया। इन कलाकारों की कृतियाँ भारतीय आस्वाद तथा लोकात्मकता से ओत–प्रोत होने के साथ समकालीन भी है। आर. सारंगन ने भी लोक तथा यंत्र परम्परा से प्ररेणा पाकर अपने चित्रों का अंकन सहजता से किया। जी0 आर0 सन्तोष, ओमप्रकाश तथा वीरेन डे के चित्रों में तांत्रिक प्रतीकों का समावेश दृष्टिगोचर होता है। इनके साथ ही लोककला कला के मुहावरों का शक्तिशाली प्रयोग अत्यन्त गहराई तथा गम्भीरता के साथ जे0 स्वामीनाथन, जय झरोटिया, सुनील दास, विश्वनाथ मुखर्जी, भूपेन्द्रनाथ देसाई तथा सोमनाथ होर जैसे कलाकारों की कृतियों में देखने को मिलता है। लोक में प्रचलित –'एप्लीके' तथा कशीदाकारी का प्रभाव माधवी पारेख की कलाकृतियों में दिखाई देता है, जो उन्होंने बिन्दुओं, रेखाओं तथा 'कटआउट' अभिप्रायों के रूप में प्रयोग किये। धनराज भगत, सतीश गुजराल, ए रामचंद्रन, एस.एल. पाराशर, देवयानी

https://doi.org/10.31995/jgv.2024.v15iS1.017

कृष्ण तथा लक्ष्मण पै जैसे प्रमुख कलाकार पारम्परिक मूल्यों से प्रभावित हुए तथा उनसे प्रेरणा लेकर उन्हें आधुनिकता तथा समकालीनता के साथ अपनी कृतियों में प्रयोग किया। लोक कलाकृतियों या लोक चित्राकृतियों के अतिरिक्त कुछ मूर्तिकारों ने भी अपनी मूर्तियों के निर्माण में जनजातीय कला तथा लोककला तकनीकों का प्रयोग बड़ी निपुणता तथा सृजनात्मकता से किया। उन मूर्तिकारों में के.जी. सुब्रमण्यम, जानकीराम, नंदगोपाल (जनजातीय मूर्तियों से प्रेरित होकर वेल्डिंग, सिल्वरिंग और कलरिंग तकनीकों का अपने मूर्तिशिल्पों में इस्तेमाल) मीरा मुखर्जी, मृणालिनी मुखर्जी और लक्ष्मा गौड़ आदि सम्मिलित है।[12] इन सबके अतिरिक्त सुनयनी देवी के चित्रों पर भी लोककला का प्रभाव दिखायी देता है। ये पुनरुत्थान काल की प्रथम महत्वपूर्ण महिला चित्रकार है। इन्होंने बंगाल की लोककला से प्रेरित होकर अपनी कलाकृतियों का निर्माण किया। इन्होंने लोककला से ओतप्रोत सामाजिक, यथार्थवादी तथा धार्मिक चित्र अधिक बनाये है। इन्होंने मुख्य रूप से पट्चित्र अधिक बनाये है, जिनमें लोकशिल्प तथा लोकात्मक रूप में देवी–देवताओं का अंकन किया है। सुनयनी देवी ने अपने चित्रों में सामान्य जन–जीवन के साथ–साथ पौराणिक विषयों के चित्र भी बनाये है। इनके चित्रित विषय अत्यधिक सरल, सहज तथा माधुर्य है। लोककला का प्रभाव लेते हुए इन्होंने अपने चित्रों में तीन चौथाई चेहरे तथा गोल मुखाकृति बनायी है। सुनयनी देवी के चित्रों में अलंकरण तत्व भी देखने को मिलते है, जो लोकचित्रों की महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है। अतः लोक कलाकारों की यह चेष्टा रही है कि चित्र को इतना अधिक विवेचनात्मक तथा वर्णात्मक बनाया जाये कि विषयवस्तु अनिभज्ञ दर्शक चित्रित किये गये पात्रों, वस्तुओं तथा स्रोत्रों से परिचित हो जाये और उनमें चित्रित सम्पूर्ण घटना सबके सामने सरल तथा सहज रूप में सामने आ जाये।[13]

अतः रंगों के घनत्व का सरलीकरण, छाया का अभाव, प्रतिरूपात्मकता की प्रवृत्ति, बिन्दुओं की पुनरावृत्ति द्वारा लयात्मक सृजन, सरल बाह्य रेखा के प्रति आग्रह आदि लोकात्मक विशेषताओं ने आधुनिक कलाकारों को अत्यधिक प्रभावित किया। पुरातन मिथकों को आधुनिक तथा समकालीन सन्दर्भों में प्रयुक्त कर आधुनिक कलाकारो ने अपनी कलाकृतियों को जन्म दिया। आधुनिक समय में रामायण, महाभारत तथा भागवत आदि के आधार पर नये रूप में चित्र बनाये जा रहे हैं। अतः वर्तमान कलाकार या आधुनिक कलाकार में इन्हीं लोक धार्मिक प्रवृत्तियों के कारण धार्मिक प्रवृत्ति विद्यमान दिखायी देती है।[14] आधुनिक या वर्तमान समय में लोक कलाओं की स्थिति आज हम सब के सामने नये सृजन के रूप में अलंकृत होकर प्रस्तुत हो रही है। हम सभी को इस भारतीय लोक चित्रण सांस्कृतिक सम्पदा को बनाये रखने का प्रयास करना चाहिए। समकालीन भारतीय कलाकारों, चित्रकारों की लोक तथा संस्कृति के प्रति बढ़ती उत्सुकता तथा दिलचस्पी का गम्भीरता से अध्ययन तथा खोज की जानी चाहिए। सभी समकालीन कलाकारों को समकालीन कलाओं के साथ–साथ लोक कला पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। लोककला का मूल्यांकन, सृजन तथा प्रसार आवश्यक एवं उपयोगी है, क्योंकि यह मानव मूल्यों के मानवीकरण में अहम् भूमिका निभाती है। लोककलाओं में निरन्तरता तथा गतिशीलता बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि वे कुछ नया ग्राह्य करके उसे आत्मसात् करे।

वर्तमान में लोक कला को नये–नये प्रतीकों से जोड़ने की आवश्यकता है ताकी वर्तमान में लोककला के विलुप्तीकरण को बचाया जा सके। प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य स्वतन्त्र भारत में लोककला तथा लोकात्मक प्रतीकों का वर्णन करना है साथ ही भारतीय लोक कलाओं के मौलिक स्वरूप के बदलते हुए रूप का अवलोकन कराना है, जो धीरे–धीरे हमारे परिवेश एवं वातावरण से धूमिल होती जा रही है। अतः लोक कला का हमारे जीवन में जितना अधिक प्रचार–प्रसार तथा फैलाव होगा उतना ही हमारे देश की संस्कृति या राष्ट्रीय सुख समृद्धि के जागरण में यह सहायक होगी।

सन्दर्भ

1. अग्रवाल, डॉ॰ प्रीति, 'चित्रकला के तत्व, तकनीक एवं लोक कला' इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ सं. (127,128, 129)
2. गुप्ता, डॉ॰ नीलिमा, 'चित्रकला एवं लोककलाओं के सिद्धान्त एवं तकनीक', प्रगति प्रकाशन, पृष्ठ सं. (111,112)
3. अग्रवाल, डॉ॰ हेमलता, कुमारी आकाँक्षा, 'भारतीय लोक एवं आदिवासी कलाओं के विविध रूप' प्रगति प्रकाशन, पृष्ठ सं. (3,4)
4. डॉ॰ नीरू, शोधपत्र 'स्वतन्त्र भारत में लोककलाओं की स्थिति–एक विहंगम दृष्टि', वैल प्रेस पब्लिकेशन्स, पृष्ठ स. (7,8,9)
5. अग्रवाल, डॉ॰ अर.ए., 'भारतीय चित्रकला का विकास'इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, पृष्ठ सं. (206,207)
6. अशोक, डॉ॰ गिर्राज किशोर, 'कला समीक्षा', देवऋषि प्रकाशन, पृष्ठ सं. (192,193,194)
7. कान्त, डॉ॰नीलम, शोधपत्र, 'बदलते परिवेष में लोक कलाओं की स्थिति', वैल प्रेस पब्लिकेशन्स, पृष्ठ सं. (240 से 243)
8. मावडी, डॉ॰ मोहन सिंह, 'भारतीय कला सौन्दर्य', तक्षशिला प्रकाशन, पृष्ठ सं. (97)
9. मागो, प्राण नाथ, 'भारत की समकालीन कला एक परिप्रेक्ष्य' राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पृष्ठ संख्या (97)
10. प्रधान, प्रिया, शोधपत्र, 'कुमायूँ में ऐपण लोक कला संस्कृति का बदलता प्रतिरूप', वैल प्रेस पब्लिकेशन्स, पृष्ठ संख्या (220)
11. गोस्वामी, डॉ॰ प्रेमचन्द्र, 'आधुनिक भारतीय चित्रकला के आधार स्तम्भ', राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृष्ठ संख्या (28)
12. मागो, प्राण नाथ, 'भारत की समकालीन कला एक परिप्रेक्ष्य' राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पृष्ठ संख्या (100, 101)
13. श्रोत्रिय, डॉ॰ शुकदेव, 'भारतीय चित्रकला–शोध–संचय' चित्रायन प्रकाशन, पृष्ठ सं. (80, 81)
14. अग्रवाल, डॉ॰ गिर्राज किशोर, 'आधुनिक भारतीय चित्रकला' संजय पब्लिकेशन्स, पृष्ठ संख्या (219)